Variorum Multi-Disciplinary e-Research Journal
Vol.,-05, Issue-I, February 2014

आधुनिक हिन्दी कविता का परिदृश्य

सरस्वती यादव: शोध छात्रा, जे. जे. टी. विश्वविद्यालय, राजस्थान

वर्तमान समय में जहाँ विश्व को ही एक गाँव बनाने की संकल्पना लोगो के मन में घर कर रही है वही दूसरी ओर आधुनिकीकरण, औद्योगीकरण का विकास भी निरंतर जारी है, आज समाज पुरानी रुढिंयों व परंपराओं से मुक्त हो रहा है। ऐसे समय में साहित्यकार की जिम्मेदारी ज्यादा बढ जाती है। आज साहित्यकार की जिम्मेदारी है केवल वर्तमान मे व्याप्त सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक समस्या पर अपनी लेखनी चलाए, बहुत सारे कवि इस विषय पर ईमानदारी से अपना कार्य कर रहे हैं। जब हम आधुनिक कविता या समकालीन कविता की बात करते है तो हमें निम्न बातों पर विचार करना आवश्यक है। मेरे मन में ऐसा आता है कि कवियों को मुख्य समस्या का चित्रण ही नहीं करना चाहिए, बल्कि उसके निराकरण की बात भी करनी चाहिए। ऐसा बहुत सारे समकालीन कवियों ने किया भी है। आओ इसे हम उसी परिप्रेक्ष्य मे देखने का प्रयास करें।

समकालीन हिन्दी कविता के समक्ष उत्तर आधुनिक 'साइबर स्पेसिक' और 'फ्युचर शॉक' की सर्वथा नई विषम परिस्थिति में साहित्य, और उसमें भी कविता के भविष्य की चिन्ता किसी भी साहित्यिक के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय तो है ही । परिस्थितियों के आमूलचूल परिवर्तित सन्दर्भ में हमारी आज की कविता आखिर कैसे अपने को बचाए? यह सवाल है। पूँजीवादिता की आक्रामक एवं बर्बर जटिल व्यवस्था वैश्वीकरण आखिर जिस तरह से हमारे घर - परिवार, और नितान्त निजी क्षणों में दाखिल हो रही है वह आज के मनुष्य के समक्ष गम्भीरतम चुनौती है। पूँजी एवं तकनीक का ऐसा भीषण गठजोड़ जो पहले नहीं था अब जिस तरह सारे तामझाम के साथ अपनी पूरी संहारक शक्ति के साथ 'युध्द-देहि' की मुद्रा में भुजा उठाए खड़ा है उसका सामना आज की रचनाशीलता कैसे करे? यह उसके लिए जीवन - मरण का सवाल है। द्रुष्चक्र में द्रष्टा की स्थिती उस नियति से जुडी है जिसमें यह मान लिया जाए कि कविता या साहित्य क्रमशः हाशिए पर जाने के लिए ही अभिशप्त है? क्या इस संघर्ष की परिणति हार में ही होनी है या फिर इस नई परिस्थिति में वह अपना कोई बृहत्तर स्थान निर्मित कर सकती है? और इस बृहत्तर स्थान प्रतिरोध की शक्ति अर्जित कर सकने की यदि कोई सम्भावना है, तो वे कौन से आधार होंगे जिस पर टिके रहकर इन दारुण एवं विकट मुश्किलों का सामना किया जा सकता है। यह आज विचारणीय है। वस्तुत ''आज की कविता का दृश्य यह है कि नई घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक असन्तुलन का जाना - पहचाना रुप जिन नई जटिलताओं के साथ हमारे सामने है उस बदलाव पर पकड़ का वह कोई प्रमाण नहीं दे पा रही है। वहॉ यथार्थ के जटिल रुप से

www.ghrws.in

Variorum Multi-Disciplinary e-Research Journal
Vol.,-05, Issue-I, February 2014

बदल जाने का शोर तो बहुत है, और कई बार इस बदलाव को भेद न पाने की घुटन का मार्मिक चित्र भी दिखता है। लेकिन कुल मिलाकर सामने का सच यही है कि गम्भीर ऐतिहासिक राजनीतिक विचलनों से भरे इस दौर में हमारी कविता लगातार गैर राजनीतिक, गैर ऐतिहासिक होती गई है। असमर्थता को अलंकरण की तरह धारण किए हुए आज की कविता इस आत्मसंतोष में जी रही है कि जुस्तजू में होने का भ्रम अभी उसके पास बचा हुआ है।'' आज की कविता पर कोई इसे बेहद निराशापूर्ण और हताश टिप्पणी कह सकता है। किसी को पढ़कर हँसना या रोना एक साथ आ सकता है । हँसी इस पर कि उन्होंने कितनी आसानी से सारी समकालीन कविता को खारिज कर दिया और रोना उनके इस आत्मविश्वास पर। दरअसल यहाँ सवाल न तो समकालीन कविता को खारिज करने का था और न ही आत्मविश्वास की अतिरेकता का प्रश्न। अगर कुछ था तो यही कि समकालीन कविता पर गम्भीर बहस होनी चाहिए। बहरहाल विजय कुमार को कपिल देव व्दारा उठाए गए मुद्दे 'एक अधीरता, अतिवाद और सरलीकरण में रिड्युस' हुए लगते है। उन्हें यह भी शिकायत है कि - समकालीन कविता के पूरे फ्रेमवर्क को समझा नही गया है। लेकिन दिलचस्प है कि विजय कुमार जिस आलेख 'समाचार समय में कविता' में कविता के समकालीन फ्रेमवर्क को समझने की बात करते हैं उस फ्रेम में समकालीन कविता के नाम पर मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह और विष्णु खरे की चर्चा है। समकालीनता का इतना समावेशी दायरा वे ही बना सकते हैं। प्रतिष्ठित कवियों के हवाले से बात करना आसान है उसमें सुविधा भी होती है। यहाँ कपिलदेव का मन्तव्य आज की समकालीन अपेक्षाकृत युवा कविता से है या फिर वह पीढ़ी जो हाल के कविता परिदृश्य में प्रतिष्ठित हो चली है। बहरहाल संकट की इस भयावहता का उल्लेख राजेश जोशी, अरुण कमल, मंगलेश डबराल के लेखन में भी देखा जा सकता है। वीरेन डंगवाल ने तो साहित्य अकादमी सम्मान के अवसर पर अपने वक्तव्य में इस समस्या को बुनियादी चिन्ता के रुप में सामने रखा था। उन्हे लगता है कि 'केवल मानवतावादी नजरिए से आलोचनात्मक विवेक के बगैर होनेवाला काव्यात्मक प्रतिरोध एक सघन हताशा में विसर्जित हो सकता है। इसके आसार बराबर दिखाई भी देते हैं।'

संस्कृति सन्दर्भ के इस परिवर्तित परिवेश की क्षिप्रता के समानान्तर यह हो सकता है कि हमने हारी होड़ लगाई हो। लेकिन होड़ का यह माद्दा ही अपने वजूद में चित्रित किया जानेवाला वह प्रस्थान बिन्दु है जो तमाम पंकिलताओं एवं विपर्ययों के बावजूद हमारा अभीष्ट है। क्योंकि जीवन की उपस्थिति के समस्त राग - विराग आनुभविक रुप में आकार ग्रहण करने की चेष्टा में ही प्रतिफलित होते है। प्रतिरोध की शक्ति चेतना विनिर्माण के रास्ते में ये प्रयास कमतर महत्व के नही है। कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है। बात को आगे बढाने के लिए इन सन्दर्भों के

www.vhrws.in

Variorum Multi-Disciplinary e-Research Journal
Vol.,-05, Issue-I, February 2014

परिप्रेक्ष्य में यहॉ हाल में प्रकाशित कुछ संग्रह विचारणीय है। ये संग्रह है अष्टभुजा शुक्ल का दु:स्वप्न के बाद', स्वप्निल श्रीवास्तव का 'मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिए', ए. अरविन्दाक्षन का 'राग लीलावती', आर. चेतनक्रांति का 'शाकनाच' और जितेन्द्र श्रीवास्तव का 'अनभै कथा।'

त्रिलोचन का एक बरवै है -

दुनिया जओ जओ किहेसि हमार पछेड़

मुदा नाइँ छाडे हम आपन मेड़।

आज भी त्रिलोचन ने अपना मेड़ नहीं छोडा है। सभ्यता एवं संस्कृति के अतिरिक्त दबाव और पछेड़ के बावजूद भी कुछ इसी मिट्टी के बने है। 'दु:स्वप्न के बाद' संग्रह की कविताएँ इस बात का साक्ष्य है कि इस सारे हो-हल्ले के बीच लोकराग के ताने-बाने में न्यस्त जीवन की संवेदनशीलता को अक्षुण्ण रखा जा सकता है। उनकी कविता की प्रकृति नागरगन्धी नही है, बल्कि गाँव-देहांत, घर, खेत आदि की भावमय उपस्थिति उनकी कविता को समकालीन कविता में अपना अलग चेहरा प्रदान करती है। सिर्फ लोकराग किसी कवि को महत्वपूर्ण नही बना सकते, जब तक उसमें जीवन पर दबाव के और उस दबाव के बीच अपनी समाहारी प्रवृत्ति को सुरक्षित रखने और उसे काव्यात्मक प्रतिरोध की शक्ति के रुप में अभिव्यक्त करने की क्षमता न हो। अष्टभुजा में यह क्षमता है। उनकी खासियत है कि गाँव या लोक के प्रति उनका रुझान किसी रोमानी अवधारणा से आबध्द नहीं है। वे इस भाव के साथ अपने परिवेश के प्रति मुखातिब नही है कि 'अहा ग्राम जीवन भी क्या है?' वे मूलत: उस वाह्य एवं परिस्थितिजन्य तनाव के साक्षी है जिसके चलते ग्रामीण संस्कृति की चूलों में दरार आ गई है। लोक एवं नगर संस्कृति की टकराहट के बीच क्या कुछ क्षरित हुआ है और क्या बचा है उनकी कविताएँ इसका एक लेखा - जोखा प्रस्तुत करती है। इतिहास का दुरुपयोग तक उनकी आँखों से ओझल नहीं है। संग्रह की पहली ही कविता 'इतिहास बोध' में उन्होंने इस बात को रेखांकित करने का प्रयास किया है कि कैसे - कैसे इतिहास की प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति समकालीन जीवन में गहरा असर डालती है। यह कविता विडम्बना और व्यंग्य की सन्धि स्थल पर रचित है। कुछ पंक्तियों देखे -

इतिहास से / कुछ लोग

चिनगारियाँ उठाकर लाए

और बिखेर दिए जेठ की पछुआ में।

अष्टभुजा जीवन के कुछ ऐसे अनुभव को सहेजते नजर आते है जो आमतौर पर हमारे रचनात्मक धरातल से गायब है। ये छोटी-छोटी घटनाएँ जीवन के बढ़ते क्रम में अनुभव के बनने, पकने की प्रक्रिया का अभिन्न हिस्सा है। मसलन शब्द पाने के लिए खडिया और स्याही का घोलना

www.ghrws.in

Variorum Multi-Disciplinary e-Research Journal
Vol.,-05, Issue-I, February 2014

एवं ढरकाना, मिठास के लिए शरीफा और खजूर का भुसौले में पकसाना, पिल्ले और सुग्गों को खचोली के नीचे तोपना, गरम दूध की साढी को सिकुडे सफेद दुपट्टे की तरह छूना, सूत्रों का रटना आदि पूरे वैभव के साथ उनकी कविता में सहज ही दाखिल है। एक उदाहरण देखे -

अइउण अइउण करता रहा
लेकिन नही साध सका
कोई प्रयोग
गुरुजनों की दृष्टि में
लिखना चाहता था कविता
हो गई आत्मकथा।

यहाँ 'लिखना चाहता था कविता, हो गई आत्मकथा' में क्या व्यंजित है। व्यंजना का एक आयाम यही है कि अपने अनुभव के दायरे से निकलकर सार्वजनीन होने के इरादे को छोड 'लोकल' और स्वानुभव पर ही वे जोर देते है। देशज शब्द बहुतों के यहाँ प्रयुक्त होते है लेकिन अक्सर दाल में छौंक की तरह। उनसें शब्दों की ताकत और उन शब्दों की परम्परा एवं व्यवहार की अर्थगर्भित धडकनें नहीं सुनी जा सकती है। अष्टभुजा इसके विपरीत इन शब्दों का प्रयोग उसकी पूरी व्यवहारधर्मी ऊर्जा के साथ करते है। करें भी क्यों नही; आखिर अष्टभुजा का प्रथमतया उसी परिवेश से नजदीकी रिश्ता। त्रिलोचन ने लिखा है कि 'भासा टहइ - टहइ सझड कहनाइ/पावइ ऊ जेकर नगीच रहनाइ।' उसी कारण वे अपने कथ्य को इन देशज शब्दों के 'वीट' एवं मुहावराई ताकत के साथ सीधा - सीधा कह पाते है। 'जो दिल से दिल को बॉटते है/राम जाने हरा हरा गेहूँ काटते है।' या 'और उनके बाप/उनकी माताओं की/सावॉ की तरह लतिया रहे थे' ऐसे ही प्रयोग है।

भाषा के विलक्षण प्रयोग के अतिरिक्त अन्तर्वस्तु के स्तर पर समकालीन समस्याओं पर कविता है 'रोजाना के सवाल।' यह मूलत: बाजार की गिरफ्त से प्रतिकार की कविता है। मेढ़क - धर्मी चेतना कैसे यहाँ अपना अर्थ प्रकट एवं व्यंजित कर रही है - इसका उदाहरण देखें -

और अन्त में पंडितों ने
हमारे जैसे आदमी के लिए
हाँ हमारे जैसे आदमी के लिए
उन्ही उन्हीं वस्तुओं को
तुलादान पर चढ़ा देने के मन्त्र उच्चारे
जबकि हम मेढ़क निकले।

www.gnrws.in

Variorum Multi-Disciplinary e-Research Journal
Vol.,-05, Issue-I, February 2014

नई सोच के 'ग्लोबल मॉडल' के बरक्स हमारी हिन्दी की आज की कविता का यह 'लोकल' उत्तर आधुनिक टफलरीय 'फ्यूचर शॉक' को सहन करने में न केवल सक्षम है बल्कि अपनी तर्जे - बयाँ से यह आश्वस्त करती है कि इस सियाह रात में भी वा मौजे - जर नूरगर है जो हिन्दी कविता की अपनी शक्ति है। दरअसल कविताएँ जब तक आन्तरिक अनिवार्यताओं से निकलेंगी तब तक उसके भविष्य को लेकर चिन्ता जैसी कोई बात नही होगी। समस्या तब उत्पन्न होती है जब हम फैज की इस बात को ध्यान में नही रखते कि 'शेर लिखना जुर्म न सही, लेकिन बेवजह शेर लिखते रहना ऐसी अक्लमंदी भी नहीं है।'

संदर्भ ग्रन्थ:

- समकालीन कवि और कविता: संपादक- माधवी छेड़ा एवं रविन्द्र कात्यायन, अनंग प्रकाशन
- कवि की नई दुनिया: संपादक- शंभुनाथ, वाणी प्रकाशन
- समकालीन हिन्दी कविता के बदलते सरोकार: संपादक- डॉ. राधा वर्मा एवं रविन्द्र कात्यायन, संस्थान प्रकाशन, नई दिल्ली
- समकालीन हिन्दी कविता और राजनीति: संपादक- राम पाण्डेय, नमन प्रकाशन

www.ghrws.in